# मानव अधिकार-शिक्षा की समस्याएँ

शंकर शरण*

**यह कहा जाता है कि लोकतंत्र मनुष्य के अधिकारों पर आधारित है, परंतु माना जाता है कि इसे मनुष्य के कर्तव्यों पर स्थिर होना चाहिए; किंतु अधिकार और कर्तव्य दोनों ही यूरोपीय धारणाएँ हैं। धर्म भारतीय धारणा है जिसमें अधिकार और कर्तव्य का वह कृत्रिम विरोध खत्म हो जाता है जिसे उस विश्व-दृष्टि ने बनाया है जो स्वार्थ को हर कार्य की जड़ बताता है। धर्म की धारणा में अधिकार और कर्तव्य का गहरा और शाश्वत ऐक्य पुनः प्राप्त होता है। यही लोकतंत्र का आधार है जिसे एशिया को पहचानना चाहिए, क्योंकि इसी में एशिया की आत्मा और यूरोप की आत्मा का भेद स्थित है। (श्री अरविंद)**

**पश्चिम के लिए समय आ गया है कि वह मानव अधिकारों के लिए उतना नहीं जितना मानवीय कर्तव्यों की चिंता करे। (सोल्झेनित्सिन)**

मानव अधिकार आज पूरी दुनिया में एक अत्यंत प्रचलित अवधारणा है। किंतु इसके सार, रूप और उद्देश्य के बारे में विभिन्न लोग विभिन्न मत रखते हैं। यदि इस विषय पर दुनिया भर के शिक्षा केंद्रों, गैर सरकारी संगठनों, मानवाधिकार कार्यकर्ताओं आदि के विचारों को एकत्र किया जाए तो उसमें समान और असमान तत्वों का वर्गीकरण और मूल्यांकन करना एक कठिन समस्या बन जाता है। तरह-तरह की माँगें और आरोप आज मानव अधिकार के नाम पर प्रस्तुत किए जाते हैं, जिनमें कोई नया विद्यार्थी उलझ कर रह जा सकता है।

यहाँ तक कि कौन सी चीज़ मानव अधिकार है, मानव अधिकारों का किसी देश के संविधान और कानून से क्या संबंध है, किस तरह के काम मानव अधिकारों का उल्लंघन हैं और किस तरह के नहीं, आदि प्रश्नों पर भी प्रत्येक देश में, विभिन्न समूहों के बीच एक राय नहीं पाई जाती।

**असिस्टेंट प्रोफ़ेसर*, सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली

उदाहरण के लिए, भारत में कश्मीरी पंडितों की स्थिति। 1989 से अभी तक चार लाख कश्मीरी पंडित कश्मीर घाटी से आतंकवाद के शिकार होकर भगाए जा चुके हैं। पर कई लोग इस तथ्य की चर्चा से बचते हैं, या विकृत करके रखते हैं। अर्थात्, मानव अधिकार की दृष्टि से उन कश्मीरी पंडितों की स्थिति क्या रही है, इस पर स्वयं भारत के विभिन्न बौद्धिक, राजनीतिक समूहों में सहमति नहीं है। इसी क्षेत्र का दूसरा तथ्य यह है कि कश्मीर घाटी में बड़ी संख्या में सुरक्षा बल तैनात हैं जो बाहरी और भीतरी आतंकवादियों से देश और नागरिकों की सुरक्षा के कार्य में लगे हैं। किंतु उन पर कुछ लोगों द्वारा प्राय: मानवाधिकार हनन का आरोप लगाया जाता है। इस बिंदु पर भी वही स्थिति है। विभिन्न राजनीतिक, बौद्धिक समूहों में सुरक्षा बलों के कार्य भूमिका और मानवाधिकार हनन के आरोपों पर तीव्र मतभेद हैं। यह केवल एक क्षेत्र के उदाहरण हैं। दुनिया के कोने-कोने में ऐसे विषय और प्रसंग हैं जो मानवाधिकार की दृष्टि से चर्चित होते रहते हैं तथा जिन पर विवादों का भी अंत नहीं है।

इसीलिए मानव अधिकार के संपूर्ण विषय पर निष्पक्ष, खुली दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। तभी इससे जुड़े प्रश्नों, प्रसंगों और स्थितियों पर सम्यक् शिक्षा देने में सहायता मिलेगी। नीचे इसी उद्देश्य से कुछ बिंदु विचारार्थ प्रस्तुत किए जा रहे हैं–

1. मानव अधिकार संबंधी प्राथमिक पाठ्य-सामग्रियों में प्राय: यह उल्लेख मिलता है कि इसकी धारणा मूलत: संयुक्त राज्य अमेरिका के स्वातंत्र्य घोषणापत्र (1776) तथा फ्रांस के मनुष्य और नागरिकों के अधिकारों के घोषणापत्र (1789) से नि:सृत हुई है। इसके बाद संयुक्त राष्ट्र के मानव अधिकार घोषणापत्र (1948) का उल्लेख होता है, जिससे यह विचार अंतर्राष्ट्रीय मंच पर स्थापित हुआ। इस प्रकार प्राय: सभी शैक्षिक विमर्शों में मानव अधिकारों को समझने की दृष्टि से यूरोपीय-अमेरिकी विचारों, अनुभवों और शब्दावलियों का ही प्रयोग होता है। एशियाई, पूर्वी सभ्यताओं में तत्संबंधी कोई वैचारिक, सैद्धांतिक संदर्श रहा है या नहीं, यह बात प्राय: गुम रहती है। जबकि भारत, चीन, मिस्र जैसी सभ्यताएँ यूरोप और अमेरिका से बहुत अधिक पुरानी और महान रही हैं। ज्ञान और संस्कृति की दृष्टि से उनकी धरोहर विशेषकर मूल्यवान हैं। उसमें 'मानव' और 'अधिकार' जैसे प्रसंगों में भी बड़ी गंभीर और सुचिंतित शिक्षाएँ हैं। किंतु मानव अधिकार की औपचारिक शिक्षा में उनका उल्लेख नहीं होता। यह एकांगिता मानव अधिकार विषय के प्रति समझ को अपूर्ण रखती है।
2. मानव अधिकार की धारणा को द्वितीय महायुद्ध के बाद राजनीतिक महत्त्व मिलना शुरू हुआ। यानी औपनिवेशिक शासन का युग खत्म होने के बाद। यह कुछ आश्चर्य की बात है कि जब तक एशिया, अफ्रीका और अरब क्षेत्रों के असंख्य देश पराये शासन की गुलामी झेल रहे थे, तब तक उन करोड़ों

मानवों के 'अधिकार' की चिंता पश्चिमी जगत में मुखर नहीं हुई। जबकि उपर्युक्त अमेरिकी, फ्रांसीसी दस्तावेज़ यथावत् महत्वपूर्ण माने ही जाते थे। इसलिए उन्हीं दस्तावेज़ों को मानव अधिकार का स्रोत बताना उत्तर-औपनिवेशिक बुद्धिमता है। यह सहज उत्पन्न नहीं हुई। इसके पीछे नव-स्वतंत्र देशों पर अपनी वैचारिक श्रेष्ठता या दबदबे की भावना भी है। क्योंकि यह प्रश्न तो उठता ही है कि जब यह करोड़ों लोग विदेशी जुए से मुक्त होकर स्वतंत्र हो गए, तब उन्हें 'मानव अधिकार' की शिक्षा देने या चिंता के पीछे कौन सी मानसिकता है? क्या यूरोपीय नेताओं, विद्वानों की यह चिंता पूर्णतः सत्यनिष्ठ है, अथवा यह भी 'गोरे मनुष्य के भार' का नया संस्करण है? सुप्रसिद्ध इतिहासकार अर्नाल्ड टॉयनबी ने भी इसी भाव में पूछा था, कि पश्चिमी देशों को हर मामले में अपनी संस्कृति, अपने सामाजिक संगठन और अपनी बौद्धिकता को सार्वभौमिक मानने का क्या अधिकार है? टॉयनबी पश्चिमी बौद्धिकता को पूरी दुनिया पर थोपने की प्रवृत्ति को आर्थिक और राजनीतिक दबदबे से जोड़ कर देख रहे थे। हाल के दशकों में मानव अधिकार की एक विशेष व्याख्या को अत्यधिक महत्त्व दिए जाने और प्रचारित करने पर यह बिंदु विचारणीय हो जाता है।

3. वस्तुतः 'मानव' और 'अधिकार' की कई धारणाओं का कोई सार्वभौमिक, सर्व-स्वीकृत एक अर्थ नहीं है। इन अवधारणाओं की कम से कम तीन बड़ी और मूलभूत रूप से भिन्न व्याख्याएँ आज की दुनिया में चल रही हैं। एक, यूरोपीय-ईसाई, दूसरी अरब-इस्लामी और तीसरी भारतीय-हिंदु। इन तीन धाराओं के मानक विद्वत ग्रंथों में यह देखा जा सकता है कि मानव, समाज, कर्तव्य और अधिकार के बारे में उनकी अवधारणा एक दूसरे से कितनी भिन्न है। अतः मानव अधिकार के बारे में किसी एक ही 'सार्वभौमिक' दर्शन की चर्चा करना ठीक नहीं है।

4. निस्संदेह, यूरोप-अमेरिका के ऐतिहासिक अनुभव में अनेक मूल्यवान विचार हैं जो संपूर्ण मानवता के लिए उपयोगी हैं। फिर भी शिक्षा की दृष्टि से जानना आवश्यक है कि मनुष्य, समाज, संसार, ज्ञान और कर्म के बारे में सांस्कृतिक रूप से भिन्न सभ्यताओं के दर्शन और अनुभव यूरोपीय अनुभवों से बेमेल भी हो सकते हैं। ब्लादीमीर लेनिन, श्री अरविंद, विन्सटन चर्चिल और अयातुल्ला खुमैनी की वैचारिक रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करें। यह तुरंत स्पष्ट हो जाएगा कि मनुष्य, स्वतंत्रता, प्रगति, खुशहाली, अधिकार और कर्तव्य आदि के बारे में उनके विचार नितांत भिन्न हैं। यह भिन्नता सैद्धांतिक और व्यावहारिक, दोनों ही स्तरों पर है, जिसका महत्त्व नोट किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, श्री अरविंद के इन शब्दों पर विचार करें–

*''यही यूरोपीय लोकतंत्र की दुर्बलता थी और उसकी विफलता का स्रोत भी कि इसने मनुष्य के अधिकार को केंद्रीय समझा, मानवता के धर्म को नहीं। इसने निम्न वर्ग के स्वार्थ को उच्च वर्ग के अहंकार के विरुद्ध उभारा, इसने घृणा और आपसी युद्ध को ईसाई आदर्शों का स्थायी सहयोगी बना दिया और एक ऐसा अबूढ विभ्रम स्थापित कर दिया जो यूरोप की आधुनिक बीमारी है।''*[1]

अब इस विचार की तुलना उन ऐतिहासिक फ्रांसीसी या अमेरिकी दस्तावेज़ों से करें जिनका ऊपर उल्लेख है। महत्वपूर्ण होते हुए भी उन से श्री अरविंद के विचारों में कुछ मूलभूत अंतर स्पष्ट दिखता है। वस्तुत: श्री अरविंद के विचार भारतीय सभ्यता के सुचिंतित दर्शन की ही अभिव्यक्ति है। अत: यदि मनुष्य के विचार, कर्म और लक्ष्य के बारे में ऐसे मतभेद मौजूद हैं तब किसी एक विचार विशेष को इस या उस दस्तावेज़ का हवाला देते हुए सार्वभौमिक कहकर पूरी दुनिया पर थोपना शिक्षा की दृष्टि से ठीक नहीं है।

5. एक अर्थ में, मानव अधिकार के अंतर्गत एक विशिष्ट धारणा का आग्रह पश्चिमी मताग्रह का ही विस्तार है। प्रसिद्ध ब्रिटिश राजनीतिशास्त्री सर अर्नेस्ट बार्कर ने लिखा भी है कि पश्चिम में मानवतावादी आंदोलन की उत्पत्ति उस विश्वास में है कि ''बाइबिल के लाभ सबको मिलने चाहिए और फैलाए जाने चाहिए... जिसे भी साझी मानवता और साझे मानव अधिकार की पहचान के सुख की आवश्यकता है।''[2] इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि चर्च मिशनरी संगठनों द्वारा संचालित, समर्थित अनेक मानव अधिकार संस्थान कुछ इसी प्रकार की मतांतरणकारी (इवांजेलिकल) दृष्टि से काम करते हैं। भारत समेत विश्व के बड़े भूभाग में उनका कार्य विस्तार है। मानव अधिकार की उनकी धारणा वह नहीं है जो आम शिक्षित भारतीय समझता है। चर्च द्वारा संचालित अंतर्राष्ट्रीय या स्थानीय मानव अधिकार संगठनों में अधिकांशत: 'सार्वभौमिकता' का वही अर्थ है जो संगठित चर्च की मानसिकता है। अर्थात् ईश्वर की एक बँधी धारणा, एक सुनिश्चित मज़हबी आग्रह और पूजा-विधि, नैतिकता और घेरेबंदी वाली संस्कृति। तदनुरूप इनकी मानव अधिकार धारणा भी बँधी हुई है जिसमें मानव का वही अर्थ है, जो चर्च मतवाद मानता है। यह स्वयं जाँचने-परखने की बात है कि मानव अधिकार रूपी सामान्य शब्दावली का अर्थ भिन्न-भिन्न संगठनों और कार्यकर्ताओं के लिए भिन्न-भिन्न है। इस भिन्नता के अध्ययन से स्पष्ट होगा कि 'सार्वभौमिक' मानव अधिकार की धारणा में कुछ मताग्रही संकीर्णताएँ भी है। इसकी उपेक्षा उपयुक्त नहीं है।

6. न केवल मानवता की किसी मतवादी धारणा का आग्रह एक थोपी गई 'सार्वभौमिकता'' है बल्कि उसकी एकांतिकता पर बल देना,

चाहे वह मज़हब के मामले में हो (ओनली टू गॉड) या मानव अधिकार संबंधी, एक साम्राज्यवादी मानसिकता ही है। यही मानसिकता शताब्दियों से झगड़ों, हिंसा और सभ्यतागत युद्धों की जननी रही है। अधिक दिन नहीं हुए जब भारत पर ब्रिटिश शासन को 'सिविलाइज़िग एंटरप्राइज़' यानी इस देश को 'सभ्य बनाने की परियोजना' कहा जाता था। वस्तुत: अब कई पश्चिमी विद्वान भी इसे मानने लगे हैं कि एकदेववादी (मोनोथेइस्ट) मज़हब और एकांतिक विचारधाराएं सामुदायिक असहिष्णुता का स्रोत हैं। प्रसिद्ध स्विस विद्वान प्रोफ़ेसर ज्यॉ-प्येर लेहमान ने अपने एक विस्तृत निबंध में एकदेववाद को ही असहिष्णुता, हिंसा, शत्रुता और तज्जनित युद्धों का ज़िम्मेदार ठहराया है।[3] उसी तरह *न्यूयॉर्क टाइम्स* के लेखक और द *न्यू रिपब्लिक* के संपादक एंड्रयू सुलीवन लिखते हैं, ''लगता है मज़हबी एकदेववाद में कोई ऐसी चीज़ है जो आतंकवादी मनोवृत्ति को सहारा देती है।''[4]

एक और उदाहरण लें। विश्व-प्रसिद्ध अमेरिकी पत्रिका *'टाइम'* ने एक बार ईसाइयत, इस्लाम और पोप पर केंद्रित अपने अंक पर पाठकों की प्रतिक्रियाएँ प्रकाशित की। उसमें सर्वप्रमुख स्थान जिस पत्र को दिया गया था, उसके अनुसार, ''एकदेववादी मज़हब जो केवल और एकमात्र सच पर दावा करते हैं, वे अपने स्वभाव से ही झगड़ों में डूबने की लिए अभिशप्त हैं।''[5] इस विशिष्ट पत्र का चुनाव और प्रमुख स्थान दिया जाना स्पष्ट करता है कि पश्चिमी चिंतन में इस सत्य को महत्त्व मिलने लगा है। इस प्रकार विविध अवलोकनों के प्रकाश में समझा जा सकता है कि चर्च संगठनों द्वारा प्रेरित मानवाधिकार अभियानों के पीछे उसी प्रकार की एकांतिक, मतवादी ज़िद है। एक विशेष मतवादी विचार को 'सार्वभौमिक' कहकर पूरे विश्व पर थोपने का प्रयास उसी एकांतिक मानसिकता का ही रूप है, जो असहिष्णुता ही बढ़ाती है। यह अकारण नहीं कि लोकतांत्रिक देशों में उग्र वामपंथी राजनीतिक धाराएँ 'मानवाधिकार' की पैरोकारी में सबसे आगे रहती हैं। क्योंकि यह उन्हें अपने संकीर्ण, तानाशाही मताग्रहों को 'मानव अधिकार' की भड़कदार पोशाक में प्रस्तुत करने में लाभदायक सिद्ध होती है।

7. मानव और अधिकार पर 'सार्वभौमिक' चिंतन की स्थिति समझने में पश्चिमी-ईसाई और भारतीय-हिंदू विचारणाओं की तुलना अधिक शिक्षाप्रद है। श्री अरविंद के शब्दों में-

*''मनुष्य और उसके जीवन, किसी राष्ट्र और उसके जीवन और मानवता तथा मानव जाति के जीवन के बारे में नितांत भिन्न धारणाएँ संभव हैं। भारत के चिंतन में मनुष्य को भौतिक प्रकृति द्वारा एक जीवित पिंड के रूप में नहीं देखा गया है जिसके कुछ प्राणिक आवेग हों, एक अहंकार हो, एक मस्तिष्क और एक विवेक, होमो जाति का एक पशु और हमारे मामले में होमो इंडिक्स, जिसका संपूर्ण जीवन और शिक्षा केवल उन आवेगों की परिपूर्ति में लगाई जानी*

*हो। जिसके लिए ही उसे कोई प्रशिक्षित मस्तिष्क और विवेक प्रेरित करे ताकि उसके निजी और राष्ट्रीय अहंकार की तुष्टि हो....। भारत ने मनुष्य में सदैव एक आत्मा का दर्शन किया है, एक दैवी तत्त्व का अंश जो उसके शरीर और मस्तिष्क के अंदर है, उस सर्वव्यापी आत्मा को प्रकृति में एक प्रस्फुटन के रूप में देखा है।''*[6]

उपर्युक्त शब्दों में वस्तुतः श्री अरविंद ने भारतीय दर्शन को ही अपने शब्दों में रखा है। भारतीय या हिंदू चिंतन में मानव की व्याख्या सबसे पहले उपनिषदों में मिलती है। योग विधियों का उपयोग करते हुए प्राचीन ऋषियों ने मानव की निगूढ़तम गहराइयों को देखने में सफलता पाई थी। उन्होंने पाया कि मनुष्य का अस्तित्व पाँच गुण-धर्मों या कोषों से आच्छादित है। वह कोष इस प्रकार हैं –(1) अन्नमय कोष अर्थात् किसी मनुष्य का भौतिक शरीर, (2) प्राणमय कोश अर्थात् उसकी कामनाएँ और आवेग, (3) मनोमय कोष अर्थात् उसकी संवेदन क्षमता और मानस, (4) विज्ञानमय कोष अर्थात् उसकी सबसे व्यापक आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा आभास की क्षमता, तथा (5) आनंदमय कोष अर्थात् उसकी स्वतः आनंदित होने की स्थिति।

मनुष्य के संपूर्ण अस्तित्व की यह समझ पश्चिमी समझ से बहुत भिन्न है। तदनुरूप मनुष्य के अधिकार की बात भी पश्चिमी अर्थ से भिन्न होगी। यदि मानव को संकीर्ण या पिछले रूप में देखा जाएगा तो उसके अधिकार की धारणा भी छिछली ही रहेगी। ध्यान दें तो ऊपर वर्णित पाँच कोषों में प्रथम तीन से आगे पश्चिमी चिंता प्रायः नहीं जाती। परिणामतः वहाँ मनुष्य खाने-पीने, भोग करने तथा संतति-जनन करने वाले बुद्धिशील प्राणी से आगे शायद ही कुछ अधिक अर्थ रखता है। इसीलिए, सामान्य रूप से भी पश्चिमी बौद्धिकता अपने नागरिकों को मूलतः एक स्वतंत्र उपभोक्ता और करदाता (टैक्स-पेयर) के रूप में ही लेती है। वहाँ किसी विमर्श में मानव का कोई अन्य अस्तित्व सामने नहीं आता।[7] तब मानव के प्रति इसी दृष्टि को 'सार्वभौमिक' मानकर तरह-तरह के निर्देश देना, प्रचार और माँगें करना एक मनमानी ही है। मानव अधिकार की अधिकांश चर्चा के पीछे यही संकीर्ण दर्शन झलकता है। चाहे तानाशाही, अत्याचारी शासनों में रह रहे लोगों के संदर्भ में वह दर्शन भी मूल्यवान है। किंतु मानव अधिकार पर मात्र उसी दृष्टि को सार्वभैमिक बताना सही नहीं है। अतः इसकी शिक्षा में सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

8. इस मूलभूत दार्शनिक मतभेद के अतिरिक्त मानव अधिकार के सिद्धांत और व्यवहार पर दुनिया के अन्य हिस्सों में अन्य मतभेद भी हैं। पहले के सोवियत संघ, आज के चीन, सऊदी अरब, ईरान आदि अनेक महत्वपूर्ण देश उस सिद्धांत को नहीं मानते।[8] चीन कई बार कह चुका है कि मानव अधिकार के मुद्दे को पश्चिम की शक्तिशाली सरकारें और संस्थाएं उन देशों और सत्ताओं को झुकाने के लिए एक डंडे के रूप में इस्तेमाल करती हैं जो उनकी इच्छानुरूप नहीं चलते। दुनिया के 57 मुस्लिम देशों ने सन् 1990 में कैरो में एक आधिकारिक सम्मेलन करके अपना

अलग 'इस्लामी मानव अधिकार' का घोषणापत्र जारी किया। इस घोषणापत्र में 25 धाराएँ हैं, जिसमें अंतिम धारा स्पष्ट रूप से शरीयत को अपना आधार-बिंदु मानती हैं। इस घोषणापत्र को संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1948 में स्वीकृत मानव अधिकार घोषणापत्र का इस्लामी उत्तर माना जाता है। इस प्रकार दुनिया का बहुत बड़ा हिस्सा मानव अधिकार की पश्चिमी धारणा को राजनीतिक तथा अन्य आधारों पर भी स्वीकृति नहीं देता।

इसलिए कई कारणों से मानव अधिकार की पश्चिमी धारणा को 'सार्वभौमिक' कहकर भारतीय विद्यार्थियों को इसकी यथावत् शिक्षा देना उचित नहीं है। संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र वाली धारणाओं के साथ-साथ अन्य महत्वपूर्ण धारणाओं, आपत्तियों तथा वैकल्पिक व्याख्याओं को भी सामने रखना चाहिए तभी सभी बिंदुओं की तुलनात्मक मूल्यवत्ता अधिक स्पष्ट होगी।

9. भारत में 'मानव' से अभिप्राय क्या रहा है, इसकी समेकित और सार्थक समझ के लिए कम से कम यहाँ के समकालीन मनीषियों, जैसे स्वामी विवेकानन्द, रवींद्रनाथ टैगोर, श्री अरविंद, रमण महर्षि, गांधी जी और डॉ. अंबेडकर के विचारों को अवश्य जानना, जोड़ना चाहिए। जिन्हें पूरी गहराई से समझना हो, उन्हें उपनिषद् और महाभारत का अध्ययन करना भी अपरिहार्य होगा। इस अनमोल ज्ञान-भंडार से निरपेक्ष रहकर मानवीय तत्व और मानवीयता से जुड़ी सभी चिंताओं की सही समझ नहीं बन सकती। यदि यहाँ मानव अधिकार संगठन, कार्यकर्ता और प्रवक्ता इसकी उपेक्षा करते हैं तो प्रश्न उठता है – क्यों?

10. भारतीय संदर्भ में मानवाधिकार संबंधी अधिकांश विमर्श और आह्वानों में प्राय: एक ही समुदाय को संबोधित किया जाता है। उदाहरणार्थ, मानवाधिकार मुद्दे के रूप में 'अस्पृश्यता' और 'सती प्रथा' का उल्लेख सदैव होता है। कई बार यही एक मात्र उदाहरण के रूप में रखे जाते हैं। चाहे इस कथित सती प्रथा का कोई नामो-निशान अब समाज में न दिखता हो। इन्हें प्रत्यक्ष या परोक्षत: हिंदू धर्म की अभिन्न कुरीति तक बताया जाता है, जो सही नहीं है। अस्पृश्यता केवल हिंदू धर्म का अंग नहीं, अपितु इसे सामाजिक-राजनीतिक-कानूनी स्वीकृति भी नहीं है। किंतु विचित्र बात यह है कि इसी भारतीय समाज में दूसरे समुदाय के बीच प्रचलित अनगिनत कुरीतियों का कभी उल्लेख नहीं होता जिनसे लाखों मनुष्य, विशेषकर स्त्रियाँ नियमित रूप से आज भी पीड़ित हैं।

उदाहरण के लिए 'तीन तलाक'[9] जैसी दारूण प्रथा का मानवाधिकार प्रश्न के रूप में कहीं उल्लेख नहीं होता। जबकि यह न केवल पूर्णत: प्रचलित है, बल्कि इसे कानूनी-सामाजिक-राजनीतिक मान्यता मिली हुई है। 'वीमेन राइट्स' की उग्र पैरोकारी करने वाले संगठन भी इस पर प्राय: चुप्पी ही रखते हैं। बोलते भी हैं तो मंद स्वर में और परोक्ष रूप से। करोड़ों मुस्लिम स्त्रियों के लिए सदैव दुर्दशा की तलवार-सी लटकी रहने वाली यह कुप्रथा मानवाधिकार की

चिंता का मुद्दा नहीं बनती। जबकि यह केवल इसी तक ही सीमित नहीं। तीन तलाक के अतिरिक्त मुस्लिम स्त्रियों पर मुताह[10] (अस्थायी विवाह), स्त्री–खतना (एफ़.जी.सी.[11] या एफ़.जी.एम.) ज़बरन बुर्काबंदी[12], आदि अन्य अत्याचार भी होते हैं।

मुस्लिम स्त्रियों की दुर्गति करने वाले तरह–तरह के फ़तवे[13] कई बार मीडिया में कारुणिक रूप से देखे गए हैं। यह सब मानवाधिकार के गंभीर हनन के स्पष्ट उदाहरण होते हुए भी शायद ही कभी विमर्श या उदाहरण में स्थान पाते हैं। उसी प्रकार, वैश्विक स्तर पर काफ़िरों यानी गैर–मुस्लिमों के प्रति नीच नज़रिया एक स्वघोषित इस्लामी सिद्धांत और व्यवहार है, जिसे असंख्य मुस्लिम देशों में कानूनी मान्यता हासिल है। इसकी भी मानवाधिकार के प्रश्न के रूप में कभी आलोचना नहीं होती।

इन सबकी तुलना में हिंदुओं के बीच नामशेष, अवैध 'अस्पृश्यता' को मुद्दा बनाकर कई ईसाई मिशनरी संगठनों द्वारा ''16 करोड़ दलितों की मुक्ति'' यानी उन्हें ईसाइयत में धर्मांतरिक करने का मानवाधिकारी अभियान चलाया जाता है। मानवाधिकार विमर्श में इस तरह की पक्षपाती चुप्पी और शोर–शराबा किसी तरह न्यायोचित नहीं है, जिसमें एक समुदाय को नाहक लज्जित करने की कोशिश होती है और दूसरे की नितांत अमानवीय प्रथाओं को भी आदर दिया जाता है। यह भारत में तो होता ही है, वैश्विक स्तर पर भी देखा जाता है।

उदाहरण के लिए, संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार परिषद् ने 25 मार्च 2010 को जेनेवा में 'इस्लामोफ़ोबिया' के विरुद्ध प्रस्ताव पास किया। इस्लामी देशों के संगठन ओ.आई.सी. की ओर से पाकिस्तान ने इसका नेतृत्व किया। वहाँ 17 के मुकाबले 20 मतों से ''इस्लाम को मानवाधिकार उल्लंघन और आतंकवाद से गलत जोड़ने'' के विरुद्ध प्रस्ताव पास हुआ, जबकि 8 तटस्थ रहे। कहने के लिए प्रस्ताव मज़हबों की अवमानना रोकने के लिए है, किंतु उसमें केवल इस्लाम की आलोचना रोकने का उल्लेख है। इस प्रकार, अन्य धर्मों की निंदा, आलोचना का रास्ता खुला रखा गया। मानव अधिकार ही नहीं, सामान्य न्याय की दृष्टि से भी यह दोहरा अन्याय है। एक ओर, एक मज़हब विशेष के पक्ष में मानवाधिकारों के वास्तविक मुद्दों को किनारे कर देना। दूसरी ओर, एकांतिक मतावलंबियों द्वारा बौद्ध, हिंदू, आदि धर्म–विश्वासों की निंदा, भर्त्सना और दुष्प्रचार तक रोकने की कोई चिंता न करना।

ऐसे सामुदायिक भेद–भाव के असंख्य उदाहरण और प्रमाण प्राय: मिलते हैं। प्रश्न है—मानवाधिकार अभियान में यह मतवादी, सांप्रदायिक भेद–भाव क्यों? क्या कुछ मानव समुदाय, जार्ज ऑरवेल के शब्दों के सहारे कहें तो, अधिक मानव हैं? अथवा मानव अधिकार आंदोलन की आड़ में दूसरी गर्हित, राजनीतिक, साम्राज्यवादी परियोजनाएँ भी चल रही हैं? मानव अधिकार पर गंभीर विमर्श में इन प्रश्नों को भी जोड़ना नितांत आवश्यक है।

11. भारत में विदेशी मिशनरी गतिविधियों पर

विस्तृत रिपोर्ट, शिकायतें और तत्संबंधित

प्रतिक्रियाएँ होती रही हैं। कई बार न्यायिक आयोगों ने अपने प्रामाणिक आकलनों में पाया है कि मिशनरी संगठन अवैध, संगठित धर्मांतरण अभियान चलाते हुए सामाजिक अशांति और हिंसा को जन्म देते हैं। जस्टिस नियोगी आयोग (1956), तथा जस्टिस वाधवा आयोग (1999) की रिपोर्टों को उदाहरण के लिए लिया जा सकता है। ऐसी मिशनरी गतिविधियाँ जग-जाहिर हैं, क्योंकि यह केवल भारत तक सीमित नहीं। विश्व के तमाम गैर-ईसाई क्षेत्रों में अनेक साधन संपन्न मिशनरी संगठन छल-बल-प्रलोभन-हिंसा आदि हर उपाय के सहारे संगठित धर्मांतरण के व्यवसाय में लगे हैं। चीनी नेता माओ ने इन्हें 'आध्यात्मिक आक्रमणकारी' की संज्ञा यों ही नहीं दी थी। माओ ने विदेशी मिशनरी संगठनों का चीन में प्रवेश निषिद्ध कर दिया था, जो आज भी यथावत् है।

बात ठीक भी है। कुछ धन या 'एक कटोरा भात' देकर किसी गरीब या भूख के मारे व्यक्ति का धर्म खरीद लेना, उसे अपने धर्म में धर्मांतरित करा लेना अत्यंत घृणित कार्य है। किंतु इन संगठित, आक्रामक गतिविधियों की कभी मानवाधिकार हनन के उदाहरण के रूप में भर्त्सना नहीं की जाती। यह भी मानवाधिकार विमर्श का एक घोर पक्षपाती उदाहरण है। कृपया ध्यान दें, किसी ने नियोगी आयोग या वाधवा आयोग के आकलनों पर अँगुली नहीं उठाई।[14] अर्थात् मिशनरी संगठनों द्वारा अपने धर्म-प्रसार के अभियान में सुदूर, छिपे इलाकों में तरह-तरह के छल-छद्म द्वारा गरीब हिंदुओं को शिकार बनाने की शिकायतें एक कड़वी सच्चाई है। उससे हिंसा और अशांति भी होती रही है। यह अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होता रहता है। हाल में कई स्थानों पर भूकंप, सुनामी, युद्ध आदि प्रसंगों में प्राय: समाचार आते रहे हैं कि ऐसे हर अवसर और स्थान पर मिशनरी संगठन पहुँच कर 'आत्माओं की फ़सल' बटोरने का उद्योग करने लगते हैं। विपत्ति और संकट में फँसे किसी मानव समूह को इस तरह धर्मांतरित करने की चेष्टा मानव अधिकार उल्लंघन का मामला क्यों नहीं बनती? यह बिंदु मानव अधिकार की शिक्षा में जोड़ना आवश्यक है।

वस्तुत: इस प्रसंग में स्वयं संयुक्त राष्ट्र का मानव अधिकार घोषणापत्र स्पष्ट रूप से पक्षपाती है। इसकी धारा 18 प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छा से किसी भी धर्म का वरण करने का अधिकार देती है। इसमें "अपना धर्म और विश्वास बदलने की स्वतंत्रता" भी शामिल है, जो ईसाई मिशनरी संगठनों के लिए बहुत लाभकारी बैठता है, जिन्होंने पूरी दुनिया को अपने मज़हब में धर्मांतरित करने के लिए महत्वाकांक्षी, धन-संपन्न परियोजनाएँ चला रखी हैं। किंतु उसी घोषणापत्र में इसका कोई उल्लेख नहीं कि जो धर्म-विश्वास और संस्कृतियाँ सहनशील हैं, जिनकी कोई धर्मांतरणकारी महत्वाकांक्षाएँ नहीं हैं, उन्हें भी अपनी रक्षा का अधिकार है। भारत जैसे देशों को इस पक्षपाती धारा का शिकार होना पड़ता है, जब

छल–छद्म से धर्मांतरण कराने वाले संगठन इसे अपना 'मानवाधिकार' बताते हैं। दूसरी ओर, अपने धर्म और समुदाय के धार्मिक अस्तित्व की रक्षा का प्रयास करने वाले को 'सांप्रदायिक', 'फ़सिस्ट', आदि कहकर लांछित किया जाता है। यह मानवाधिकार हनन पर दोहरी, तिहरी दृष्टि का एक अन्य गंभीर उदाहरण है, जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र की धारा 18 को समुचित रूप से संशोधित करना आवश्यक है, ताकि हिंदुओं, बौद्धों के धार्मिक अधिकार को सेमेटिक मतावलंबियों के समकक्ष अधिकार दिया जा सके।

12. मानव अधिकार विमर्श में एक अबूझ प्रवृत्ति यह भी है कि इस में केवल राज्यसत्ता या सरकार को आलोचना के केंद्र में रखा जाता है। विद्वत् चर्चा, दस्तावेज़, अपील, माँग या आंदोलन, सभी जगह मानवाधिकार उल्लंघन या गड़बड़ी के लिए सदैव राज्य का संदर्भ रहता है। मानो, राज्य से इतर तत्वों द्वारा मानवता पर किए जाने वाले किसी भी अत्याचार से मानवाधिकारियों को कोई मतलब न हो। भारत का ही उदाहरण लें, तो निरपराध मनुष्यों पर किए जाने वाले अत्याचार, हिंसा, उत्पीड़न, हत्याएँ आदि कृत्य ज़्यादातर अपराधियों, आतंकवादियों, नक्सलियों आदि द्वारा होते रहे हैं। इन पर मौन रखना मानव अधिकार की चिंता करने वालों के लिए किसी रूप में सही नहीं प्रतीत होता। क्या गैर–राजकीय तत्त्वों द्वारा मानवाधिकारों का हनन उपेक्षणीय है? अथवा, क्या आतंकवादियों द्वारा उत्पीड़ित होने वाले मनुष्य पुलिस द्वारा उत्पीड़ित होने वाले मनुष्य की तुलना में हीनतर मनुष्य हैं?

यह स्थिति तब और भी विचित्र लगती है जब देखें कि भारत जैसे देश की राज्यसत्ता नियमित और स्वतंत्र निर्वाचन, स्वतंत्र न्यायपालिका, स्वतंत्र प्रेस और मीडिया तथा विविध निगरानीकर्त्री संस्थाओं के कारण उच्छश्रृंखल, आततायी नहीं हो सकती। उस पर विविध प्रकार के अंकुश हैं, जिससे राजकीय एजेंसियों द्वारा मानवाधिकारों का मनमाना उल्लंघन करने की संभावना बहुत कम हो जाती है। ऐसी स्थिति में भी सदैव राज्यसत्ता और राज्यकर्मियों को ही मानवाधिकार के प्रसंग में खलनायक मानने की प्रवृत्ति उचित नहीं है। क्योंकि इससे उत्पीड़ित मानव की चिंता गौण तथा राजनीतिक दाँव–पेंच की ज़िद प्रमुख हो जाती है। मानव अधिकार विमर्श को इस बिंदु पर संतुलित होने और अपनी प्राथमिकता निर्धारित करने की आवश्यकता है।

13. उपर्युक्त आकलन से यह भी स्पष्ट होता है कि वैश्विक संदर्भ में मानवाधिकार का प्रश्न, मानव के सार्वभौमिक अधिकार और कर्तव्य का प्रश्न विविध प्रकार के राजनीतिक उद्देश्यों से भी अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। रूसी, चीनी, कुछ दक्षिण अमेरिकी विद्वानों तथा सरकारी प्रवक्ताओं ने कई बार यह भी कहा है कि मानवाधिकार का मुद्दा कई पश्चिमी सरकारों व एजेंसियों द्वारा दुनिया के इस या उस क्षेत्र में कोई राजनीतिक हित साधने का बहाना भी बनता रहा है। होमी भाभा, गायत्री

स्पीवैक, एडवर्ड सईद जैसे प्रसिद्ध अंतर्राष्ट्रीय विद्वानों ने भी ऐसी बातें कही हैं। हमारे देश के एक प्रतिष्ठित लेखक के अनुसार–

*''एक मानव था जब हरेक 'स्थानीय अत्याचारी' वस्तुत: किसी न किसी पश्चिमी सत्ता का चहेता या संरक्षित था। गोरी शक्तियों को सबसे बड़ी उलझन मध्य-पूर्व जैसे सरगर्म इलाके में मित्र और शत्रुओं की बदलती हुई पहचान का हिसाब रख पाने में होती थी। आखिरकार इस क्षेत्र का हरेक राष्टवादी नेता – नासिर, बेन बेला, गद्दाफ़ी, असद, खुमैनी – गोरे आदमी की नज़रों में कभी न कभी शैतान-सा प्रतीत होता रहा है। यदि उन सब पर वह कार्यवाही नहीं हुई, जो सद्दाम हुसैन पर की गई, तो इसका कारण यह था कि इस ईराकी नेता ने गोरी दुनिया पर वहाँ चोट की जहाँ उसे सर्वाधिक चोट पहुँची।''*[15]

यह टिप्पणी बताती है कि मानवाधिकार की चिंता के पैमाने पश्चिमी देशों के लिए एक नहीं हैं। इसीलिए, कोई अत्याचारी शासक आराम से रहता है तो किसी को मानवाधिकारों के उल्लंघन के नाम पर बलपूवर्क सत्ता से हटाने का अभियान चलाया जाता है। यहाँ तक कि संयुक्त राष्ट्र में केवल 'इस्लामोफ़ोबिया की निंदा का प्रस्ताव (मार्च, 2010) पास करना भी दोहरे पैमानों का ही उदाहरण है। अत: फ़िलीस्तीनियों, चेचेनों, बोस्नियाइयों के मानवाधिकारों की हार्दिक चिंता और कश्मीरी हिंदुओं या तिब्बती बौद्धों की अनदेखी के पीछे कोई संगति नहीं है। इसे पश्चिमी शक्तियों द्वारा अपने संकीर्ण राजनीतिक उद्देश्यों की सिद्धि के रूप में ही समझा जा सकता है। यह शक्तियाँ यूरोपीय सरकारें भी हैं और गैर-राजकीय, स्वयंसेवी संगठन भी जो चुने हुए देशों, सरकारों, समुदायों पर ध्यान केंद्रित करती हैं। अत: जब किसी संगठन या प्रवक्ता द्वारा कहीं मानवाधिकार की चिंता की जाती है तो उन्हें यथावत् महत्त्व देने से पहले सुसंगत परीक्षण करना आवश्यक है। अन्यथा किसी राजनीतिक चाल का शिकार बनने की संभावना भी है।

14. न्यूयॉर्क में 11 सितंबर के आतंकवादी आक्रमण के बाद पश्चिमी सरकारों ने आतंकवादियों के वित्तीय स्रोतों की जाँच-पड़ताल शुरू की। उस प्रक्रिया में जब किसी संस्था को किसी आतंकी संगठन और किसी विश्वविद्यालय के कार्यक्रम, दोनों को मदद देते पाया गया तो विश्वविद्यालयी गतिविधि पर भी नज़र रखी गई और समुचित कार्रवाई की गई। जैसे, उस विभाग या पद को समाप्त कर देना जो ऐसे संदिग्ध स्रोत के वित्तीय सहयोग से चल रही थी। अत: भारत में भी यदि कोई एजेंसी एक ओर 'एशिया को धर्मांतरित करो' (पोप का आह्वान, 1999) वाली परियोजना में लगी है, और दूसरी ओर किसी मानवाधिकार शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्यक्रम भी चला रही है, तब इसे उसी कड़ाई से परखना चाहिए कि आनुषांगिक कार्यक्रम मुख्य योजना का हिस्सा है, कोई मानवाधिकार की चिंता नहीं है। दूसरे शब्दों में, नकली मानवाधिकार संगठनों की माँगों, गतिविधियों को असली-सा सम्मान नहीं देना चाहिए। यह बात भी विभिन्न

प्रसंगों में ज़ाहिर हुई है कि कई देशी–विदेशी मज़हबी आतंकवादी[16] संगठनों, घातक तत्त्वों ने भी मानवाधिकार विभाग बना रखे हैं जो उनके मुखौटे–सा कार्य करते हैं।

पंजाब में आतंकवाद से संघर्ष करने का लंबा अनुभव रखने वाले प्रसिद्ध पुलिस अधिकारी के.पी.एस. गिल के अनुसार कई मानवाधिकार संगठन वस्तुतः आतंकवादी संगठनों के ही सार्वजनिक रूप हैं और उन्हीं के हितों में कार्य करते हैं। ''ऐसे संगठन मानवाधिकार उल्लंघन की घटनाओं की जाँच और रोकथाम में कोई वास्तविक रुचि नहीं लेते। उनका एक मात्र उद्देश्य यह रहता है कि सुरक्षा बलों पर कीचड़ उछालें और देश की छवि खराब करें।''[17] ऐसे अवलोकनों की उपेक्षा करना उचित नहीं है। विशेषकर उनके लिए जो मानवाधिकार विषय को गंभीरता से लेते हैं।

15. अतएव, किसी घटना, मुद्दे या माँग को मानवाधिकार में जोड़ने से पहले उस पर संपूर्ण और खुला विचार–विमर्श होना चाहिए। देश या प्रांत के शिक्षकों, समाजसेवियों, सामान्य लोगों की जानकारी और विचारों का विस्तृत आकलन करके ही किसी प्रसंग पर कोई निश्चयात्मक राय बनाई जानी चाहिए। न कि किन्हीं चर्चित मानवाधिकारवादी की ज़िद अथवा उग्र प्रचार, आदि से किसी भी मुद्दे को मानवाधिकार का मुद्दा मान लिया जाए जो प्रायः देखा जाता है।

यदि मानवाधिकार सचमुच प्रत्येक मानव का अधिकार है, तो इसे सदैव किसी 'विशेषज्ञता' की ज़रूरत ही नहीं। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य किसी प्रसंग पर विचार करने और राय देने का समान अधिकारी है कि कोई मुद्दा सामान्यतः मानवाधिकार की बात है या नहीं कि अमुक प्रसंग में क्या–किया जाना उचित है। उसमें किन्हीं साधन–संपन्न संगठनों के प्रचार और माँग से ही प्रभावित होना सिद्धांततः गलत होगा। मानव अधिकार अपनी परिभाषा से ही किसी विशेषज्ञता की ज़रूरत से मुक्त है। इसके अर्थ को किन्हीं निहित स्वार्थी या संकीर्ण मतवादियों के दुराग्रह का बंदी नहीं बनाना चाहिए अन्यथा यह गोपनीय राजनीतिक उद्देश्यों का औज़ार ही बनेगा। वास्तविक मानवाधिकार–चिंता वह नहीं रह सकेगी।

अतः हमारे न्यायाधीशों, राजनेताओं और पुलिसकर्मियों को भी मानव अधिकार के नाम पर सदैव अतिरिक्त संवेदनशील होने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, राजदंड के उपयोग और दुरुपयोग में अंतर अवश्य किया जाना चाहिए। किंतु राजसत्ता दंड–भय से ही चलती है। यदि मानव अधिकार के नाम पर कोई गिरोह आतंकवादियों, देशद्रोहियों और भीतरघातियों को राजनीतिक ढाल देने का कार्य करता है तो उन्हें दो–टूक उत्तर देना चाहिए। अर्थात्, जहाँ एक ओर राजकर्मियों द्वारा मानव अधिकारों का उल्लंघन नहीं होना चाहिए, वहीं मानव अधिकारों के नाम पर हो रही घातक राजनीति की चेतना भी रहनी चाहिए। ताकि मानव अधिकार के प्रति संवेदना का दुरुपयोग घातक, देश–विरोधी और हिंसक तत्त्वों द्वारा न हो।

16. आज हमारे देश में मानवाधिकार शिक्षण, प्रशिक्षण को अधिकाधिक महत्त्व दिया जा

रहा है। यह एक स्वागत योग्य प्रक्रिया है जो राज्यकर्मियों को अधिकाधिक उत्तरदायी बनाने में सहयोगी है। किंतु साथ ही साथ इसकी सावधानी बरतनी भी अत्यंत आवश्यक है कि (i) मानव अधिकार की धारणा का कोई मनमाना, असंतुलित और पक्षपाती अर्थ न किया जाए, तथा (ii) मानव अधिकारों की रक्षा के नाम पर घातक, देश-विरोधी राजनीति को जाने-अनजाने मज़बूत न होने दिया जाए।

पहले पक्ष के लिए आवश्यक है कि मानव अधिकारों पर शिक्षण-प्रशिक्षण कार्यक्रम केवल पश्चिमी दस्तावेज़ों, पुस्तिकाओं के आधार पर न चलाए जाएँ। मानव संबंधी दार्शनिक, सामाजिक चिंतन में भारतीय ज्ञान-भंडार को भी प्रमुखता से जोड़ा जाए। संयुक्त राष्ट्र के मंच से आने वाले दस्तावेज़ों की भी आलोचनात्मक समीक्षा करके ही उसे यथोचित महत्त्व दिया जाए अन्यथा हमारा शिक्षण कार्यक्रम अनजाने विदेशी वैचारिकता का अंधानुकरण बन कर रह जाएगा। ध्यान रखना चाहिए कि विदेशी विचारधाराएँ सदैव कल्याणकारी नहीं रही हैं। मात्र 20वीं सदी का उदाहरण ही पर्याप्त है कि इस दौर में लगभग सभी अशांतिकारक, हानिकारक, विस्तारवादी, असहिष्णु मतवाद यूरोपीय देशों में ही बने (नाज़ीवाद, कम्यूनिज़्म, आदि), जिनसे मानवता की अपार हानि हुई। अतः पश्चिम से आने वाला हर दस्तावेज़ ज्ञानवर्धक और कल्याणकारी नहीं होता। उसकी खुली समीक्षा ज़रूरी है। मानव अधिकार संबंधी सभी दस्तावेज़ और वक्तव्य इसके अपवाद नहीं हैं।

यदि ऐसा न किया गया तो दूसरी गड़बड़ी को रोका नहीं जा सकेगा। तब मानव अधिकार के नाम पर चलने वाले अभियान वास्तव में परोक्ष राजनीति का उपकरण बन कर रह जाएँगे। सही और आलोचनात्मक समझ के अभाव में हमारे शिक्षाविद्, न्यायाधीश, राज्याधिकारी और नीति-निर्माता मानवाधिकारों की वह व्याख्या करने लगेंगे जो विध्वंसक और विदेशी तत्त्वों की राजनीति को अभीष्ट हैं। अभी भी ऐसा देखा जाता है कि जो लोग देश के कानूनों का उल्लंघन करते हुए गोपनीय अभियान चलाते हैं, वही हमारे नए पुलिस-कर्मियों, न्याय-कर्मियों, शिक्षकों, आदि को मानवाधिकार पर 'शिक्षा' देने का कार्यक्रम भी चलाते हैं अर्थात् अपनी वैचारिक, राजनीतिक टेक के अनुरूप उन्हें अनुकूलित करने का संगठित प्रयास करते हैं। इससे हमारे न्याय-कर्मियों, शिक्षकों में मानव अधिकार के आदर की चेतना बढ़ने के बदले भ्रम फैलने का खतरा अधिक है।

मानव अधिकार का शिक्षण-प्रशिक्षण किस लिए ज़रूरी है, यह प्रश्न भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। क्या हम लोगों को अधिक मानवीय, प्रेमपूर्ण बनाना चाहते हैं या कड़वाहट से भरना चाहते हैं? क्या उन्हें हम हर प्रकार की साम्राज्यवादी, विस्तारवादी विचारधाराओं तथा अग्रवाद, आतंकवाद के प्रति सहनशील बनाना चाहते हैं? क्या हम उन्हें अधिक सामाजिक या कोरा स्वार्थी बनाना चाहते हैं, जो हमेशा लेने की बात करें, देने की नहीं? क्या हम उन्हें अधिकारों की असंतुलित शिक्षा देकर अपने सामाजिक, मानवीय कर्त्तव्यबोध से मुक्त दुराग्रही मतवादी व्यक्ति भर बनाना

चाहते हैं? ये सभी प्रश्न अप्रासंगिक नहीं हैं। हमारे देश में मानव अधिकार पर चल रहे अधिकांश लेखन से ही ये प्रश्न उभरते हैं।

इसमें खुले मस्तिष्क से इन पक्षों का समाधान ढूँढना चाहिए। इनके बने-बनाए उत्तर नहीं हैं। किसी भी प्रकार के दबाव से मुक्त होकर ही वास्तविक उत्तर पाने की दिशा में बढ़ा जा सकता है। हाल में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हम मनुष्य-संबंधी प्रश्नों का उत्तर खोज रहे हैं, किन्हीं निर्जीव पदार्थों से संबंधित विषय यह नहीं है। मानवीय पक्षों में सार्वभौमिकता का भाव मानव की धारणा से जुड़ा हुआ है, जो भारत और यूरोप से एक जैसे नहीं। यह मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक अस्तित्व की अवधारणाओं से भिन्न हो जाता है। इस अंतर को ही रेखांकित करते हुए श्री अरविंद ने कहा था– 'आध्यात्मिक दृष्टि मानती है कि मस्तिष्क, जीवन और शरीर मनुष्य के साधन मात्र हैं, उसके लक्ष्य नहीं। बल्कि ये उसके अंतिम और सर्वोच्च साधन भी नहीं हैं। यह दृष्टि इन्हें मनुष्य का बाहरी साधन रूप मानती है, न कि उसका संपूर्ण अस्तित्व।'

मनुष्य की इस अवधारणा को कम से कम भारत में उपेक्षित करके कोई शिक्षा नहीं होनी चाहिए। इसी गलती के कारण अभी तक स्वतंत्र भारत का समाज अध्ययन या समाज विज्ञान विमर्श नितांत दुर्बल, यहाँ तक कि कई विषयों में हास्यास्पद रहा है। इसी से वह पश्चिमी विद्वान जगत में कोई सम्मान अर्जित नहीं कर सका। क्योंकि हम मनुष्य, समाज, विकास आदि की पश्चिमी अवधारणाओं, चिंताओं को यथावत् स्वीकार करके उनका अंधानुकरण करते रहे हैं। इसीलिए हमारे समाज विज्ञान व मानविकी विषयों के प्रोफ़ेसरगण विश्व-मंच पर किसी योगदान के योग्य नहीं बन सके हैं। यदि हमें वास्तव में कोई मौलिक योगदान करना हो तो मानव और संपूर्ण मानवीय, सामाजिक प्रश्नों को अपनी भारतीय दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति बनानी होगी।

## संदर्भ एवं टिप्पणियाँ


1. श्री अरविंद. 16 मार्च, 1908. *एसियाटिक डैमोक्रेसी, वंदेमातरम* (दैनिक)
2. वार्कर, अर्नेस्ट. 1967. *प्रिंसिपल ऑफ़ सोशल एंड पोलिटिकल थियरी.* लंदन- ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 242-43
3. लेहमान, ज्यॉ-प्येर. 30 मार्च, 2006. ''*द डेंजर्स ऑफ मोनोथेइज्म इन द उज ऑफ ग्लोबलाइजेशन*'', *द गलोबलिस्ट* (इंटरनेट दैनिक), वाशिंगटन
4. सुलीधन, एंड्रयू ''*इज़ दिस ए रिलीजन वार*'', स्पैन, दिल्ली में अमेरिकी दूतावास की पत्रिका, मार्च-अप्रैल 2002. सुलीवल का मूल लेख *न्यूयॉर्क टाइम्स* में प्रकाशित हुआ था।

5. डी. डेविस, कैरोलाइन. *टाइम,* न्यूयार्क, 25 दिसंबर-1 जनवरी, 2007.
6. श्री अरविंद, ''ए प्रीफेस ऑन नेशनल एजुकेशन'', *श्री अरविंदो एंड द मदर ऑन एजुकेशन* (पांडिचेरी) श्री अरविंद आश्रम, 2004, पृ. 14-15.
7. गांधी जी के हिंद स्वराज में एक छोटा सा अध्याय '*सभ्यता का दर्शन*' भी इसकी पुष्टि करता है। उसमें गांधी ने पश्चिमी सभ्यता में मनुष्य की संकीर्ण, भौतिकवादी समझ की कठोर आलोचना की है।

   उदाहरण के लिए देखें, सैमुअल जीव्स, *ह्यूमन राइट्स, कंटीन्यूइंग द डिस्कशन (मोस्को, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1980).* इसमें सोवियत विचारधारा के अनुरूप मानव अधिकारों की धारणा की वकालत करते हुए इस संबंध में पश्चिमी विचारों की आलोचना की गई है।
9. सरसरी और मनमाने तौर से, फोन पर, एस.एम.एस. से, टेलीग्राम द्वारा आदि से भी अपनी स्त्रियों को तलाक दे देने के उदाहरण देते हुए गीतकार हसन कमाल कहते हैं, 'यह एक घृणित, गैरज़िम्मेदार कार्य है जिसे कोर्ट में चुनौती भी नहीं दी जा सकती, क्योंकि हमारा (मुस्लिमों का) पर्सनल लॉ इसे सही मानता है। क्या आप विश्वास करेंगे, कुछ पुरुषों ने अपनी स्त्रियों को इसलिए तलाक दे दिया क्योंकि वे उनके द्वारा बनाए गए भोजन से रुष्ट हो गए।'' (*इंडियन एक्सप्रेस,* ऑनलाइन, संस्करण 13 सितंबर, 2004)। किंतु मुस्लिम प्रवक्ता आम तौर पर इस पर नहीं बोलते। वे चाहते हैं कि दूसरे भी चुप रहें, क्योंकि वे इसे इस्लाम का अंदरूनी मामला मानते हैं। इसलिए वह मानव अधिकार का विषय नहीं बनाया जा सकता। तहसीम उस्मानी के शब्दों में, 'तीन तलाक उचित हैं या नहीं, इसे टी.वी या समाचार-पत्रों में विचार-विमर्श या बहस करके तय नहीं किया जा सकता। यह संवेदनशील मामला केवल उलेमा, मुफ्ती और मज़हबी जानकारों द्वारा शरीयत की सीमा के अधीन तय किया जा सकता है।'' ('*ह्वाय मीडिया इज वरीड एबाउट ट्रिपल तलाक*', द मिल्ली गजट, नई दिल्ली, 16-31 अक्तूबर, 2004.)
10. शरीयत के अनुसार 'मुताह' एक नियत अवधि तक का शादी का करार है। इसकी अवधि आरंभ से ही तय कर दी जाती है और यह अवधि पूरी होते ही शादी स्वत: खत्म समझी जाती है। यह अवधि कुछ भी हो सकती है, यहाँ तक कि कुछ घंटे भी। इस प्रकार की कथित शादी की प्रकृति से ही समझा जा सकता है कि संबंधित लड़कियों के लिए यह वास्तव में क्या है ?

    उदाहरण के लिए, हैदराबाद की एक वास्तविक घटना देखें- ''दस-दस मिनट के अंतराल में आफरीन (आयु 17 वर्ष), फरहीन (20 वर्ष) और सुलताना (19 वर्ष) की शादियाँ हो गईं। अमीरात के मुहम्मद बकर खान नामक एक साठ वर्षीय बदबूदार बूढ़े शेख के साथ। उसने उन लड़कियों के माता-पिताओं को दस-दस हज़ार रुपये

दिए और बाद में उनके परिवारों को अमीरात आने के वीज़ा के साथ दस-दस हज़ार और भेजने का वादा किया'' द *टेलीग्राफ़*, कोलकाता, 15 अगस्त, 2005)। उन लड़कियों ने पुलिस में शिकायत दर्ज कराई कि शेख उनके साथ कुछ दिन रह कर गायब हो गया। यह कोई अपवाद घटना नहीं है। ऐसी घटनाओं के लिए आंध्र प्रदेश और केरल में एक नाम ही है, 'अरब शादी'।

एक अन्य प्रकार का उदाहरण कश्मीर में देखा गया है। बाहरी जिहादी लड़के स्थानीय कश्मीरी मुस्लिम परिवारों में जाकर उनकी लड़कियों के साथ जबरन और मनमानी 'मुताह' शादी रचाकर अपनी काम-पिपासा शांत करते हैं। वर्षा भौंसले ने लिखा, ''मुताह के अंतर्गत कोई मुजाहिद अपनी पसंद की किसी लड़की के साथ दो साल की शादी का करार कर लेता है और समय पूरा होने पर शादी अपने-आप खत्म हो जाती है। फिर लड़की अपने भाग्य पर छोड़ दी जाती है। सामाजिक लोकापवाद और किसी संतान, दोनों का भार तजिंदगी अकेली ढोने के लिए।'' ('*ह्यूमन राइट्स वायोलेशन इन कश्मीर*'– रिडिफ.कॉम, 25 जनवरी, 2000)

11. यह स्त्रियों में खतने की प्रथा है, अंग्रेज़ी में इनफ़िब्यूलेशन। इसे फ़ीमेल जेनाइटल म्यूटिलेशन (एफ़.जी.एम.) अथवा फ़ीमेल जेनाइटल कटिंग (एफ़.जी.एम.) भी कहा जाता है। संयुक्त राष्ट्र के दस्तावेज़ों में एफ.एम.जी. की संज्ञा से ही इस कुप्रथा पर चर्चाएँ होती रही हैं। संक्षिप्त विवरण के लिए देखें "Female genital mutilation", Fact sheet No.241, May 2008, by World Health Organisation.

इस्लामी स्रोतों में इसे खफ्द या खिफ्द कहा जाता है। इस्लामी देशों, विशेषकर मध्य पूर्व और अफ्रीका में इसका अधिक चलन है। इसके परिणामस्वरूप विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के अनुसार, हरेक वर्ष बीस लाख लड़कियाँ सेप्सिस या खून बह जाने से मर जाती हैं। देखें, *ओरियाना फलाची, द फोर्स ऑफ रीजन* (न्यू यार्क, रिज्जोली, इंटरनेशनल, 2006), पृ. 220.

इस बर्बर प्रथा पर लोगों को जागरूक बनाने के लिए संयुक्त राष्ट्र में 6 फरवरी को विश्व एफ.जी.एम. विरोधी दिवस ("International Day Against Female Genital Mutilation") घोषित कर रखा है।

इस समस्या पर विस्तार से जानने के लिए देखें MarianeSarkis, "Female Genital Cutting (FGC):An Introduction" http//www.fgnnerwork.org/intro/fgmintro/php), साथ ही, "Female Genital Mutilation : Report of a WHO Technical Working Group, Geneva, 17-19 July, 1995," World Health Orgranisation: Geneva, 1996.

सुप्रसिद्ध लेखिका अय्यान हिरसी अली ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक '*इनफिडेल*' (न्यूयार्क फ्री प्रेस, 2007), पृ0 112–13, 143 पर इसकी पीड़िताओं की स्थिति का कुछ वर्णन दिया है।

फिर भी इस्लामी विद्वान इस प्रथा का जबर्दस्त बचाव करते हैं। 1994 में मिस्र के मुफ़्ती शेख अद अल हक ने तर्क दिया कि इस कार्य के ठीक से संपन्न न होने से होने वाली हानि के नाम पर इसे बंद नहीं किया जा सकता। कैरो के अज अज़हर विश्वविद्यालय ने एफ.जी.सी. के पक्ष में कई बार फतवे भी जारी किए हैं। जैसे सन् 1949, 1951, 1981 में इथियोपिया की इस्लामी मामलों की सर्वोच्च परिषद् के सदस्य शेख मूसा मुहम्मद उमर ने जिबूती में फरवरी 2005 में हुए इस विषयक एक सम्मेलन में इसका बचाव किया। संयुक्त राष्ट्र के सूचना प्रभाग, आई.आर.आई.एन. को दिए गए एक साक्षात्कार में भी उन्होंने विस्तार से इस प्रथा का इस्लाम से संबंध दिखाते हुए समर्थन किया। उसके अंश–

'*प्रश्न* - मुस्लिम धर्म में स्त्री-खतने का इतना महत्त्व क्यों है ?

*उत्तर* - हमारे इस्लामी विद्वान मानते हैं कि स्त्री-खतना पुरुष खतने से भिन्न है। उनका पक्का विश्वास है कि स्त्री-खतना उचित है और इस्लामी स्रोतों से इसे प्रतिबंधित करने का कोई प्रमाण नहीं है, जब तक कि वह फ़राओनी न हो।

पूरा साक्षात्कार यहाँ पढ़ा जा सकता है–

http://www.irinnews.org InDepthMain.aspx?InDepthId =15& ReportId=62475

12. आस्ट्रेलिया में एक आधिकारिक इस्लामी विद्वान शेख-ताल-अल दीन अल-हिलाल ने कहा ''यदि आप खुला मांस बाहर ले जाएँ और सड़क पर, घर के पिछवाड़े या किसी पार्क में बिना ढके रख दें और बिल्ला आकर उसे खा जाए तो कसूर किसका है - उस बिल्ले का या बिना ढके मांस का?'' उसके कहने का अर्थ यह था कि यदि बिना बुर्के वाली स्त्री पर कोई बलात्कार करे तो दोष स्त्री का है। *टाइम मैगज़ीन*, 6 नवंबर, 2006.

13. देखें, *टैक्स्ट ऑफ़ द क्वेश्चन एंड फतवा ऑन इमराना* 'द मिल्ली गजट', नयी दिल्ली, 6 जुलाई, 2005. इमराना का मामला इस प्रकार था– उसके साथ उसके ससुर ने बलात्कार किया। मगर उस पर कोर्ट में आपराधिक कार्रवाई करने के बदले दारूल-उलूम देवबंद ने एक फतवा जारी किया कि इस घटना से इमराना की अपने पति के साथ शादी खत्म समझी जाए, और उसका विवाह उस बलात्कारी ससुर से कर दिया जाए।

    गुड़िया का मामला यह था- उसका पति 7 वर्ष से लापता था। इससे इस्लामी कानून के अनुसार उसे स्वतंत्रता थी कि उस शादी को खत्म समझे। तदानुरूप उस ने दूसरी शादी कर ली। इस शादी के बाद जब वह गर्भवती हुई, उसी बीच उसका पहला पति लौट आया। देवबंद के इस्लामी विद्वानों ने फतवा दिया कि गुड़िया की दूसरी शादी अवैध हो गई, और वह पहले पति के पास लौट जाए। चाहे यह गुड़िया चाहती हो या नहीं।

(Indira Jaisingh, "Working with the legislative, judicial and legal system to end institutional gender bias in the administration of justice and promote gender justice in the informal and parallel justice institutions", 18th-20th July, 2007, Expert Group Meeting on CEDAW UNESCAP) अंततः गुड़िया मर गई।

14. जस्टिस वाधवा आयोग ने अपनी जाँच में पाया था कि ग्राहम स्टैंस केवल समाजसेवी ही नहीं थे बल्कि अपने धर्म का प्रसार करने और आदिवासियों को ईसाइयत में धर्मांतरित कराने के लिए समर्पित एक पक्के मिशनरी भी थे। इस तरह सामूहिक धर्मांतरण की गतिविधि कानूनन अवैध थी। यही स्थानीय हिंदुओं में उनके प्रति आक्रोश का भी कारण था। वाधवा आयोग की रिपोर्ट पर *टाइम्स ऑफ इंडिया* के संपादकीय (9 अगस्त, 1999) में टिप्पणी थी, ''वाधवा रिपोर्ट को पूरी तरह स्वीकार नहीं करना चाहिए। कुछ ईसाई संगठनों ने, उदाहरण के लिए, उसमें कुछ विसंगतियों का ध्यान दिलाया है।'' यहाँ 'विसंगति' शब्द से सही संकेत मिलता है कि संपादकीय अनिच्छापूर्वक ही सही, यह स्वीकार करता है कि उस रिपोर्ट में अधिकांश बातें सही हैं।
15. लाल, शाम *'द व्हाइट मैन्स बर्डेन', ए हडरेड एनकाउंटर्स.* नयी दिल्ली– रूप, 2003, पृ. 206.
16. कुछ लोग 'मजहबी आतंकवाद' पद पर आपत्ति करते हैं। उन्हें जानना चाहिए कि हमारे निवर्तमान राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार एम.के.नारायणन ने इस पद का प्रयोग करते हुए यह भी कहा था कि यह हमारे ''देश के लिए सर्वोच्च चुनौती'' है। देखें, *दैनिक ट्रिब्यून*, चंडीगढ़, 30 नवंबर, 2006.
17. ''नयी दिल्ली में 9 सितंबर, 2006 को एक पुस्तक विमोचन के अवसर पर बोलते हुए।